अध्यात्मयोगी सन्तश्रेष्ठ ज्येष्ठमलजी महाराज

भगवान महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् यद्यपि जैन गगन में किसी सहस्ररश्मी सूर्य का उदय नहीं हुआ किन्तु यह एक ज्वलन्त सत्य है कि समय-समय पर अनेक ज्योतिष्मान नक्षत्र उदित हुए हैं जो अज्ञान अन्धकार से जूझते रहे। अपने दिव्य-प्रभामण्डल के आलोक से विश्व का पथ प्रदर्शन करते रहे। ऐसे प्रभापुञ्ज ज्योतिष्मान नक्षत्रों से जप-तप, सेवा-सहिष्णुता और सद्भावना की चमचमाती किरणें विश्व में फैलती रही हैं। ऐसे ही एक दिव्य नक्षत्र थे अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज। आपका जन्म बाडमेर जिले के समदडी ग्राम में विक्रम संवत् १९१४ पौष कृष्णा तीज को हुआ था। आपके पूज्य पिताश्री का नाम हस्तिमलजी और माताजी का नाम लक्ष्मीबाई था जिन्हें प्रेम के कारण लोग हाथीजी और लिछमाबाई भी कहा करते थे। आपका वंश ओसवाल और लुंकड गोत्र था। आपके पूज्य पिताश्री और मातेश्वरी दोनों ही धर्मनिष्ठ थे। पिताश्री व्यापारकला में कुशल थे। वे न्याय और नीति से और कठोर परिश्रम से धन कमाते थे और मातेश्वरी लक्ष्मी बहन को सत्संगति बहुत ही प्यारी थी। जब भी समय मिलता उस समय को वह निरर्थक वार्तालाप या किसी की निन्दा विकथा न कर धर्मस्थानक में पहुँचती और मौन रहकर समभाव की साधना करती जिसे जैन परिभाषा में सामायिक कहते हैं। माता के ये संस्कार बालक ज्येष्ठमलजी के जीवन में झलकने स्वाभाविक थे।

नेपोलियन से किसी जिज्ञासु ने पूछा कि आपने यह वीरता कहाँ से सीखी? उसने उत्तर में कहा कि माता के दूध के साथ मुझे प्राप्त हुई थी। यदि कोई साधक ज्येष्ठमलजी महाराज से पूछता कि आपके जीवन में आध्यात्मिकता कैसे आयी तो सम्भव है कि वे यही कहते कि माता की जन्मघूंटी के साथ ही मिली। सत्य-तथ्य यह है कि माता के दूध के साथ जो संस्कार मिलते हैं वे चिरस्थायी होते हैं। बालक का हृदय निर्विकारी होता है। वह कच्ची मिट्टी के पिण्ड के सदृश है। माता-पिता जैसा संस्कार उसमें भरना चाहें जैसी मूर्ति निर्माण करना चाहें वैसा ही कर सकते हैं।

बालक ज्येष्ठमलजी का अध्ययन समदडी में ही सम्पन्न हुआ। उस युग में गाँवों में उच्चतम अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं थी। जीवनोपयोगी अध्ययन कराया जाता था। अध्ययन सम्पन्न होने पर हस्तीमलजी ने अपने पुत्र का विवाह सम्बन्ध करना चाहा। पुत्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मुझे अभी विवाह नहीं करना है। मेरे अन्तर्मानस में संसार के प्रति किंचित् मात्र भी आसक्ति नहीं है।

ज्योतिर्धर जैनाचार्यश्री पूनमचन्दजी महाराज जन-जन के अन्तर्मानस में धर्म-दीप जलाते हुए समदडी पधारे। आचार्यश्री के पावन उपदेशों को सुनकर किशोर ज्येष्ठमलजी के मन की कलियाँ उसी प्रकार खिल गयीं जैसे सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर सूरजमुखी फूल खिलता है। किशोर ज्येष्ठमलजी के भीतर दिव्य संस्कारों की झलक थी। सत्संग से शनैः शनैः विचारों में एक रासायनिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और किशोर ज्येष्ठमलजी ने एक दिन अपने विचार माता-पिता के सामने रखे। माता-पिता ने कहा—वत्स! अभी तुम युवावस्था में प्रवेश करने जा रहे हो। तुम हमारे कुल-दीपक हो। पहले विवाह करो और तुम्हारी सन्तान होने के पश्चात् तुम साधना के मार्ग को स्वीकार करना। भगवान महावीर ने भी तो माता-पिता के आग्रह से विवाह किया था। फिर तुम्हें इतनी क्या जल्दी है।

किशोर ज्येष्ठमल ने कहा—पूज्यप्रवर, आपका कथन उचित है। वे विशिष्ट ज्ञानी थे, किन्तु मुझे विशेष ज्ञान नहीं है जिससे मैं कह सकूँ कि मेरी इतनी उम्र है। विषय तो विष के समान भयंकर हैं। क्या कभी रक्त से सना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ वस्त्र रक्त से साफ हो सकता है ? वैसे ही विषय-विकारों से किसी की तृप्ति नहीं हुई है। मुझे उनके प्रति किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं है। आप मुझे सहर्ष अनुमति प्रदान करें जिससे मैं आचार्य प्रवर के सन्निकट प्रव्रज्या ग्रहण कर जीवन को निर्मल बना सकूं।

पुत्र की उत्कृष्ट विरक्ति-वृत्ति को देखकर माता-पिता ने सहर्ष अनुमति प्रदान की और सत्तरह वर्ष की उम्र में सं० १९३१ में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षा समदडी में ही सम्पन्न हुई। आचार्यश्री के सान्निध्य में रहकर आपने आगम साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। आपकी लिपि बहुत ही सुन्दर थी। आपके जीवन की महान् विशेषता थी स्वाध्याय और ध्यान। दिन में अधिकांश समय आपका स्वाध्याय में व्यतीत होता था। आपका अभिमत था कि जैसे शरीर की स्वस्थता के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे जीवन की पवित्रता के लिए स्वाध्याय आवश्यक है। जैसे नन्दनवन में परिभ्रमण करने से अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है वैसे ही स्वाध्याय के नन्दनवन में विचरण करने से जीवन में आह्लाद होता है। स्वाध्याय वाणी का तप है। उससे हृदय का मैल धुलकर साफ हो जाता है। स्वाध्याय एक अन्तः प्रेरणा है जिससे आत्मा परमात्मा बन जाता है। स्वाध्याय से योग और योग से स्वाध्याय की साधना होती है। स्वाध्याय का अर्थ है अपनी आत्मा का अपने अन्तरात्मा में डुबकी लगाकर अध्ययन करना। मैं कौन हूँ और मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है इत्यादि का चिन्तन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है, जन्म जन्मान्तरों में संचित किये हुए कर्म स्वाध्याय से क्षीण हो जाते हैं। स्वाध्याय अपने आप में एक तप है। उसकी साधना आराधना में साधक को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। निरन्तर स्वाध्याय से मन निर्मल और पारदर्शी बन जाता है और शास्त्रों के गम्भीर भाव उसमें प्रतिबिम्बित होने लगते हैं।

रात्रि का अधिकांश समय आप जप-साधना में लगाते थे। मन को स्थिर और तन्मय बनाने के लिए अशुभ विचारों से हटकर शुभ विचारों में लीन होने के लिए जप किया जाता है। जप के निष्काम और सकाम ये दो भेद हैं। किसी कामना व सिद्धि के लिए इष्टदेव का जप करना सकाम-जप है और बिना कामना के एकान्त निर्जरा के लिए जप करना निष्काम-जप है। जप के भाष्यजप, उपांशुजप और मानसजप ये तीन प्रकार हैं। सर्वप्रथम भाष्यजप करना चाहिए, उसके पश्चात् उपांशु और उसके पश्चात् मानसजप करना चाहिए। ज्येष्ठ मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर जिस समय उपाश्रय में लोग बैठे रहते थे उस समय वे सो जाते थे और ज्यों ही लोग चले जाते त्यों ही एकान्त शान्त स्थान पर खड़े होकर जप की साधना करते थे और प्रातः काल जब लोग आते तो पुनः सो जाते थे। इस प्रकार उनकी साधना गुप्त रूप से चलती थी। लोग उन्हें आलसी समझते थे, किन्तु वे अन्तरंग में बहुत ही जागरूक थे। स्वाध्याय और जप की साधना से उन्हें वचनसिद्धि हो गयी थी। अतः लोग उन्हें पंचम आरे के केवली कहते थे।

एक बार आपश्री आहोर से विहार कर वादनवाडी पधार रहे थे। रास्ते में उस समय के प्रकाण्ड पण्डित विजयराजेन्द्र सूरिजी अपने शिष्यों के साथ आपसे मिले। आपश्री ने स्नेह-सौजन्यता के साथ वार्तालाप किया। राजेन्द्रसूरिजी ने अहंकार के साथ कहा कि आप मेरे से शास्त्रार्थ करें। आपश्री ने कहा आचार्यजी शास्त्रार्थ से कुछ भी लाभ नहीं है। न आप अपनी मान्यता छोड़ेंगे, और न मैं अपनी मान्यता छोडूंगा। फिर निरर्थक शास्त्रार्थ कर शक्ति का अपव्यय क्यों किया जाय ? शास्त्रार्थ में राग-द्वेष की वृद्धि होती है, किन्तु अन्य कुछ भी लाभ नहीं होता। अतः आप अपनी साधना करें और मैं अपनी साधना करूँ, इसी में लाभ है।

राजेन्द्र सूरिजी ने जरा उपहास करते हुए कहा—ये ढूँढिया पढ़ा हुआ नहीं है। लगता है मूर्खराज शिरोमणि है। इसीलिए शास्त्रार्थ से कतराता है। राजेन्द्र सूरिजी के सभी शिष्य खिलखिला कर हँस पड़े।

महाराजश्री ने उसी शान्तमुद्रा में कहा—अभी इतनी शास्त्रार्थ की जल्दी क्यों कर रहे हैं ? कल ही आपका शास्त्रार्थ हो जायगा। यह कहकर महाराजश्री अपने लक्ष्य की ओर चल दिये और राजेन्द्र सूरिजी भी आहोर पहुँच गये। आहोर पहुँचते ही दस्त और उलटिएँ प्रारंभ हो गयीं। वैद्य और डाक्टरों से उपचार कराया गया किन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इतनी अधिक दस्त और उलटी हुईं कि राजेन्द्रसूरिजी बेहोश हो गये। सारा समाज उनकी यह स्थिति देखकर घबरा गया। जरा-सा होश आने पर उन्हें ध्यान आया कि मैंने अभिमान के वश उस अध्यात्मयोगी सन्त का जो अपमान किया जिसके फलस्वरूप ही मेरी यह दयनीय स्थिति हुई है। उन्होंने उसी समय अपने प्रधान शिष्य विजय धनचन्द्रजी सूरि को बुलाकर कहा—तुम अभी स्वयं वादनवाडी जाओ और मुनि ज्येष्ठमल जी महाराज से मेरी ओर से जाकर क्षमायाचना करो। मुझे नहीं पता था कि वह इतना चमत्कारी महापुरुष है। यदि तुमने विलंब किया तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे प्राण ही संकट में पड़ जायेंगे। राजेन्द्रसूरि के आदेश को शिरोधार्य कर शिष्य वादनवाड़ी पहुँचे और महाराजश्री से क्षमाप्रार्थना की। महाराजश्री ने कहा कि इस प्रकार ज्ञानियों का अभिमान करना योग्य नहीं है। यदि उन्हें शास्त्रार्थ करना है तो मैं प्रस्तुत हूँ।

शिष्यों ने राजेन्द्रसूरिजी की ओर से क्षमायाचना की और कभी भी किसी सन्त का अपमान न करेंगे ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण की। महाराजश्री ने कहा—सूरिजी ठीक हो चुके हैं। आप पुनः सहर्ष जा सकते हैं। शिष्यों ने ज्यों ही जाकर देखा त्यों ही सूरि जी की उलटी और दस्तें बन्द हो चुकी थीं और वे कुछ स्वस्थता का अनुभव कर रहे थे।

एक बार आपश्री जालोर विराज रहे थे। प्रवचन के पश्चात् आपश्री स्वयं भिक्षा के लिए जाते थे। ज्यों ही आप स्थानक से निकलते त्यों ही प्रतिदिन एक वकील, सामने मिलता जिसके मन में साम्प्रदायिक भावना के कारण आपके प्रति अत्यधिक घृणा की भावना थी। महाराजश्री ज्यों ही आगे निकलते त्यों ही वह अपने पैर के जूते निकालकर अपशकुन के निवारणार्थ उसे पत्थर पर तीन बार प्रहार करता था। प्रतिदिन का यही क्रम था। एक दिन किसी सज्जन ने गुरुदेव को बताया कि यह प्रतिदिन इस प्रकार का कार्य करता है।

महाराजश्री ने उसे समझाने की दृष्टि से दूसरे दिन पीछे मुड़कर देखा तो वह पत्थर पर जूते का प्रहार कर रहा था। महाराजश्री ने मधुर मुसकान बिखेरते हुए कहा—वकील साहब, यह क्या कर रहे हैं? आप जैसे समझदार बुद्धिमान व्यक्तियों को इस प्रकार सन्तों से नफरत करना उचित नहीं है। सन्त तो मंगल स्वरूप होते हैं। उनका दर्शन जीवन में आनन्द प्रदान करता है।

वकील साहब ने मुँह को मटकाते हुए कहा—आपके जैसों को हम सन्त थोड़े ही मानते हैं। ऐसे तो बहुत नामधारी साधु फिरते रहते हैं।

महाराजश्री ने कहा—आपका यह भ्रम है। सन्त किसी भी सम्प्रदाय में हो सकते हैं। किसी एक सम्प्रदाय का ही ठेका नहीं है। सन्तों का अपमान करना उचित नहीं है। एक सन्त का अपमान सभी सन्त-समाज का अपमान है। अतः आपको विवेक रखने की आवश्यकता है।

वकील साहब ने कहा—ऐसे तीन सौ छप्पन सन्त देखे हैं।

महाराजश्री ने कहा—यहाँ पत्थर पर जूते क्यों मारते हैं? सिर पर ही जूते पड़ जायेंगे। यों कहकर महाराजश्री आगे बढ़ गये और वकील साहब कोर्ट में पहुँचे। वकील साहब के प्रति गलतफहमी हो जाने के कारण न्यायाधीश ने आज्ञा दी कि वकील साहब के सिर पर इक्कीस जूते लगाकर पूजा की जाय।

वकील साहब अपनी सफाई पेश करना चाहते थे, पर कोई सुनवाई नहीं हुई और जूतों से उनकी पिटाई हो गयी।

उस दिन से वकील साहब किसी भी सन्त का अपमान करना भूल गये और वकील साहब महाराजश्री के परम भक्त बन गये। इसको कहते हैं 'चमत्कार को नमस्कार'।

आचार्यप्रवर श्रीलालजी महाराज के एक शिष्य थे जिनका नाम धन्ना मुनि था। वे मारवाड़ में सारण गाँव के निवासी थे। उन्होंने आचार्य श्रीलालजी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की और तेले-तेले पारणा करते थे। लोग कहते थे चतुर्थ आरे का धन्ना तो बेले-बेले पारणा करता था और यह पंचम आरे का धन्ना उससे भी बढ़कर है जो तेले-तेले पारणा करता है। एक बार आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी महाराज ब्यावर के सन्निकट 'बरं' गांव में पधारे। उधर धन्ना मुनि जी वहाँ पर अन्यत्र स्थल से विहार करते हुए पहुँच गये। जंगल में महाराजश्री उनसे मिले। किन्तु धन्ना मुनि को अपने तप का अत्यधिक अभिमान था। महाराजश्री ने स्नेह सद्भावना भरे शब्दों में सुखसाता पूछने पर भी वे नम्रता के साथ पेश नहीं आये। अभिमान के वश होकर उन्होंने कहा—ज्येष्ठमलजी, पूज्य श्रीलालजी महाराज साधु ही सच्चे साधु हैं। अन्य सम्प्रदाय के साधु तो भाड़े के ऊँट है, जो इधर-उधर घूमते रहते हैं। उनमें कहाँ साधुपना है? वे तो रोटियों के दास हैं।

महाराजश्री ने कहा—धन्ना मुनि! आप तपस्वी हैं, साधु हैं। कम से कम भाषा समिति का परिज्ञान तो आपको होना ही चाहिए। सभी सम्प्रदाय में अच्छे साधु हो सकते हैं। इस प्रकार मिथ्या अहंकार करना उचित नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धन्नामुनि—मुनिजी ! सत्य बात कहने में कभी संकोच नहीं करना चाहिए। मैं साधिकार कह सकता हूँ कि पूज्य श्रीलालजी महाराज के सम्प्रदाय के अतिरिक्त कोई सच्चे व अच्छे साधु नहीं हैं।

महाराजश्री ने एक क्षण चिन्तन के पश्चात् कहा--आप जिस सम्प्रदाय की इतनी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं, उस सम्प्रदाय को अमुक दिन आप छोड़ देंगे और जिस तप के कारण आपको अहंकार आ रहा है उससे भी आप भ्रष्ट हो जायेंगे। तप अच्छा है, चारित्र श्रेष्ठ है, किन्तु तप और चारित्र का अहंकार पतन का कारण है।

महाराजश्री इतना कहकर चल दिये। धन्ना मुनि व्यंग्य भरी हँसी हँसते हुए अपने स्थान पर चले आये और जिस दिन के लिए महाराजश्री ने भविष्यवाणी की थी, उसी दिन उन्होंने सम्प्रदाय का परित्याग कर दिया और तप आदि को छोड़कर विषय-वासना के गुलाम बन गये।

इसी तरह आचार्यश्री श्रीलालजी महाराज के शिष्य घेवर मुनि थे। उन्हें अपने ज्ञान तथा सम्प्रदाय का भयंकर अभिमान था। वे एक बार रोहट गाँव में महाराजश्री से मिले। उन्होंने भी अहंकार से महाराजश्री का भयंकर अपमान किया। उन्हें यह अभिमान था कि सबसे बढ़कर मैं ज्ञानी हूँ और हमारा सम्प्रदाय साधुओं की दृष्टि से और श्रावकों की दृष्टि से समृद्ध है। महाराजश्री ने कहा—घेवर मुनिजी ! आप इतना अभिमान न करें। आप अपने आपको महान् ज्ञानी समझते हैं। यह बड़ी भूल है। गणधर, श्रुतकेवली और हजारों ज्योतिर्धर जैनाचार्य हुए हैं। उनके ज्ञान के सामने आपका ज्ञान कुछ भी नहीं है। सिन्धु में बिन्दु सदृश ज्ञान पर भी आपको इतना अहंकार है। यह सत्य ज्ञान की नहीं किन्तु अज्ञान की निशानी है। ज्ञानी वह है जिसमें अहंकार न होकर विनय हो। रहा सम्प्रदाय का प्रश्न ? मैं स्वयं मानता हूँ कि पूज्य श्रीलालजी महाराज क्रियानिष्ठ श्रेष्ठ सन्तों में से हैं। आपका सम्प्रदाय भी बड़ा है, किन्तु अहंकार करना योग्य नहीं है।

घेवर मुनि ने अहंकार की भाषा में ही कहा कि सत्य को छिपाना पाप है। किसी भी सम्प्रदाय में इतने ज्ञानी-ध्यानी व तपस्वी सन्त नहीं हैं। वस्तुतः श्रीलालजी महाराज का सम्प्रदाय ही एक उत्कृष्ट सम्प्रदाय है और तो सभी नामधारी व पाखण्डी साधु हैं।

महाराजश्री ने कहा—ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है। आप जिस सम्प्रदाय की प्रशंसा करते हुए फूले जा रहे हैं अमुक दिन आप स्वयं इस सम्प्रदाय को छोड़ देंगे और मन्दिरमार्गी सन्त बन जायेंगे।

वस्तुतः महाराजश्री ने जिस दिन के लिए उद्घोषणा की उसी दिन घेवर मुनि मंदिरमार्गी सन्त बन गये और वे ज्ञानसुन्दरजी नाम से विश्रुत हुए। उन्होंने स्थानकवासी सम्प्रदाय के विरोध में बहुत कुछ लिखा। वे जब मुझे पीपलिया और जोधपुर में मिले तब स्वयं उन्होंने मुझे यह घटना सुनायी कि तुम उस महापुरुष की शिष्य परम्परा में हो जो महापुरुष वचनसिद्ध थे। बड़े चमत्कारी थे।

समदडी में नवलमलजी भण्डारी आपश्री के परमभक्त थे। वे आपश्री को कहा करते थे कि गुरुदेव मुझे भी क्या संथारा आयगा ? मेरी अन्तिम समय में संथारा करने की इच्छा है। वे पूर्ण स्वस्थ थे। सर्दी का समय था। घर पर वे बाजरी का पटोरिया पी रहे थे। आपश्री उनके वहाँ सहजरूप से भिक्षा के लिए पधारे। भण्डारी नवलमलजी ने खड़े होकर आपश्री को वन्दन किया। महाराजश्री ने उनकी ओर देखकर कहा—नवलमल, तू मुझे संथारे के लिए कहता था। अब बाजरी का पटोरिया पीना छोड़ और जावज्जीव का संथारा कर ले।

नवलमल जी ने कहा—गुरुदेव, मैं तो पूर्ण स्वस्थ हूँ। इस समय संथारा कैसे ? महाराजश्री ने कहा यदि मेरे पर विश्वास है तो संथारा कर। नवलमलजी ने संथारा किया। सभी लोग आश्चर्यचकित थे। किन्तु किसी की भी हिम्मत नहीं हुई कि महाराजश्री के सामने कुछ कहते। तीन दिन तक संथारा चला और वे स्वर्गस्थ हो गये।

एक बार जब महाराजश्री समदडी विराज रहे थे। उस समय एक युवक और युवती विवाह कर मांगलिक श्रवण करने के लिए आपके पास आये। महाराजश्री ने युवक को देखकर कहा—तुझे यावज्जीवन अब्रह्मसेव का त्याग करना है। युवक कुछ भी नहीं बोल सका। लोगों ने कहा—गुरुदेव, अभी तो यह विवाह कर आया ही है। यह कैसे नियम ले सकता है ? महाराजश्री ने कहा—मैं जो कह रहा हूँ। अन्त में महाराजश्री ने उसे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन का नियम दिला दिया। सायंकाल चार पाँच बजे उसे अकस्मात् ही हृदयगति का दौरा हुआ और उसने सदा के लिए आँख मूँद लीं। तब लोगों को पता लगा कि महाराजश्री ने यह नियम क्यों दिलाया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपश्री का चातुर्मास विक्रम संवत १९६३ में सालावास था। संवत्सरी महापर्व का आराधन उल्लास के क्षणों में सम्पन्न हुआ। प्रतिक्रमण पूर्ण हुआ। रात्रि के दस बजे होंगे कि महाराजश्री ने सभी श्रमणों को और श्रावकों को कहा कि वस्त्र पात्र आदि जो भी तुम्हारे नेश्राय की सामग्री है वह सारी सामग्री लेकर इस स्थानक से बाहर चले जाओ। श्रावकों को भी जो १११ व्यक्ति पौषध किये हुए थे उन सभी को कहा कि बाहर निकलो। श्रावकों ने और श्रमणों ने निवेदन किया—गुरुदेव, रिमझिम वर्षा आ रही है। इस वर्षा के समय हम कहाँ जाय ? और रात भी अँधियारी है।

महाराजश्री ने कहा—मैं कहता हूँ सभी मकान खाली कर दें। चाहे बर्षा है उसकी चिन्ता न करें। महाराजश्री के आदेश से सभी बाहर निकल गये। महाराजश्री उसी मकान में विराजे रहे। जब सभी बाहर चले गये तब महाराजश्री ने हाथ में रजोहरण लेकर सारे मकान को देखा कि कहीं कोई नींद में सोया हुआ तो नहीं है। सभी को देखने के पश्चात महाराजश्री बाहर पधारे और ज्यों ही बाहर पधारे त्यों ही वह तीन मंजिल का भवन एकाएक हड़हड़ करता हुआ ढह गया। तब लोगों को ज्ञात हुआ कि महाराजश्री ने सबको मकान से बाहर क्यों निकाला। यह थी उनकी आध्यात्मिक शक्ति जिससे भविष्य में होने वाली घटना का उन्हें सहज परिज्ञान हो जाता था।

पूज्य गुरुदेव ज्येष्ठमलजी महाराज एक बार समदडी विराज रहे थे। प्रातः काल का समय था। एक श्रावक रोता हुआ धर्मस्थानक में आया—गुरुदेव, मैं आँखों की भयंकर व्याधि से अत्यधिक परेशान हो गया हूँ, अनेक उपचार किये किन्तु व्याधि मिट ही नहीं रही है अब तो आपकी ही शरण है।

आपश्री उस समय शौच के लिए बाहर पधारने वाले थे। आपने कहा—भाई, सन्तों के पास क्या है यहाँ तो केवल धूल है। उस व्यक्ति ने आपके चरणों की धूल लगाई त्यों ही व्याधि इस प्रकार नष्ट हो गई कि उसे पता ही नहीं चला कि पहले व्याधि कभी थी। रोता हुआ आया था और हँसता हुआ लौटा। अनेकों व्यक्ति भूत-प्रेत आदि की पीड़ाओं से ग्रसित थे वे आपश्री से मांगलिक सुनकर पूर्णरूप से स्वस्थ हो जाते थे। पण्डितप्रवर नारायण दास जी महाराज जिनको आपश्री ने दीक्षा प्रदान की थी और उन्हें पण्डितप्रवर रामकिशनजी महाराज का शिष्य घोषित किया था, उनके एक शिष्य थे मुलतानमलजी महाराज। जब ज्येष्ठमलजी महाराज का स्वर्गवास हो गया तब उन्हें एकाएक खून की उल्टी और दस्त होने लगे और भयंकर उपद्रव भी करने लगे। उस समय नागौर से मन्त्रवादी जुलाहा आया। उसने मन्त्र के द्वारा जिन्द को बुलवाया कि तू मुनिश्री को कब से लगा हुआ है ? जिन्द ने कहा—मैं आज से पाँच वर्ष पूर्व लगा था। इन्होंने मेरे स्थान पर पेशाब कर दिया था। किन्तु इतने समय तक ज्येष्ठमलजी महाराज जीवित थे, उनका आध्यात्मिक तेज इतना था कि मैं प्रकट न हो सका। यदि मैं प्रगट हो जाता तो एक दिन भी मुझे नहीं रहने देते। उनके स्वर्गवास के बाद ही मेरा जोर चला। यह थी उनकी आध्यात्मिक शक्ति जिनसे उनके सामने भूत भी भयभीत हो जाते थे।

आपश्री के प्रमुख शिष्य थे नेणचन्दजी महाराज जो समदडी के ही निवासी थे और लुंकड परिवार के थे। आपका स्वभाव बहुत ही मिलनसार तथा सेवापरायण था। आपके दूसरे शिष्य गढ़सीवाना के निवासी हिन्दूमल जी महाराज थे जो रांका परिवार के थे। हिन्दूमलजी महाराज ने आर्हती दीक्षा ग्रहण करते ही दूध, दही, घी, तेल मिष्ठान्न इन पाँच विगय का परित्याग कर दिया था। साथ ही वे एक दिन उपवास और दूसरे दिन भोजन लेते थे। साथ ही अनेक बार वे आठ-आठ दस-दस दिन के उपवास भी करते थे। किन्तु पारणे में सदा रुक्ष आहार ग्रहण करते थे। बहुत ही उग्र तपस्वी थे। श्रद्धेय श्री ताराचन्दजी महाराज ज्येष्ठमलजी महाराज के लघु गुरुभ्राता थे। किन्तु आचार्य पूनमचन्द जी महाराज का, दीक्षा के तीन वर्ष पश्चात् स्वर्गवास हो जाने से आपश्री ज्येष्ठमल जी महाराज के पास ही रहे। उन्हीं के पास अध्ययन किया और गुरु की तरह उन्हें पूजनीय मानते रहे। आपकी उन्होंने बहुत ही सेवा की जिसके फलस्वरूप आपके हृदय से अन्तिम समय में यह आशीर्वाद निकला—ताराचन्द, तेरे आनन्द ही आनन्द होगा।

आपके जीवन के अनेकों चामत्कारिक संस्मरण हैं। किन्तु विस्तारभय से मैं यहाँ उन्हें उट्टंकित नहीं कर रहा हूँ। श्री ज्येष्ठमलजी महाराज को अनेक बार संघों ने आचार्य पद ग्रहण करने की प्रार्थना की। किन्तु आपश्री ने सदा यही कहा कि मुझे आचार्य पद नहीं चाहिए। मैं सामान्य साधु रहकर ही संघ की सेवा करना चाहता हूँ। आपमें नाम की तनिक भी भूख नहीं थी। राजस्थान के सैकड़ों ठाकुर आपके परमभक्त थे। आप उपाधि के नहीं समाधि के इच्छुक थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवत् १९७४ में आप समदडी पधारे और साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका चारों संघ को बुलाकर कहा—मेरा अब अन्तिम समय सन्निकट आ चुका है। आपने शान्त और स्थिर मन से निश्शल्य होकर आलोचना की। संल्लेखना व संथारा किया। श्रावकों ने निवेदन किया—गुरुदेव ! आपश्री का शरीर पूर्ण स्वस्थ है। इस असमय में यह संथारा कैसे ?

आपश्री ने कहा—मुझे तीन दिन का संथारा आयेगा। वैशाख शुक्ला चतुर्थी के दिन मध्याह्न में एक बजे जिस समय पाली से जो ट्रेन समदडी स्टेशन पर आती है, उसके यात्रीगण समदडी गाँव में आएँगे और मेरे दर्शन करेंगे, उसी समय मेरा स्वर्गवास हो जायगा। जैसे महाराजश्री ने कहा था—उसी दिन, उसी समय आपश्री का स्वर्गवास हुआ, स्वर्गवास के समय हजारों लोग बाहर से दर्शनार्थ उपस्थित हुए थे।

अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज अपने युग के एक महान चमत्कारी वचनसिद्ध महापुरुष थे। आपका जीवन सादगीपूर्ण था। आप आडम्बर से सदा दूर रहते थे और गुप्त रूप से अन्तरंग साधना करते थे। आपकी साधना मन्दिर के शिखर की तरह नहीं किन्तु नींव की ईंट की तरह थी। आज भी जो श्रद्धालु आपके नाम का श्रद्धा से स्मरण करते हैं वे आधि-व्याधि-उपाधि से मुक्त होते हैं। आपके नाम में भी वह जादू है जो जन-जन के मन में आह्लाद उत्पन्न कर देता है। आप महान प्रभावक सन्त थे। आपसे जैन शासन की अत्यधिक प्रभावना हुई।

महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज

विश्व के मूर्धन्य मनीषियों ने जीवन के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन किया है। यह सत्य है कि संस्कृति की भिन्नता के कारण चिन्तन की पद्धति पृथक्-पृथक् रही। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकता-प्रधान होने से उन्होंने भौतिक दृष्टि से जीवन पर विचार किया है, तो पौर्वात्य संस्कृति ने अध्यात्म-प्रधान होने से आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन किया। भारतीय जीवन बाहर से अन्दर की ओर प्रवेश करता है तो पाश्चात्य जीवन अन्दर से बाहर की ओर अभिव्यक्ति पाता है। महात्मा ईसा ने बाइबल में जिस जीवन की परिभाषा पर चिन्तन किया है उस परिभाषा को शेक्सपियर ने अत्यधिक विस्तार दिया है। वेद, उपनिषद्, आगम और त्रिपिटक साहित्य में जीवन की जो व्याख्या की गयी है वह दार्शनिक युग में अत्यधिक विकसित हो गयी। भारतीय संस्कृति में जीवन के तीन रूप स्वीकार किये हैं—ज्ञानमय, कर्ममय और भक्तिमय। वैदिक परम्परा में जिस त्रिपुटी को ज्ञान, कर्म और भक्ति कहा है उसे ही जैन दर्शन में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा है और बौद्ध परम्परा में वही प्रज्ञा, शील और समाधि के नाम से विश्रुत है। यह पूर्ण सत्य है कि श्रद्धा ज्ञान और आचार से जीवन में पूर्णता आती है। पाश्चात्य विचारक टेनिसन ने भी लिखा है—

"Self-reverence, Self-knowledge and Self-control, these three alone lead life to sovereign power."

आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान और आत्मसंयम इन तीन तत्त्वों से जीवन परम शक्तिशाली बनता है।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी ने जीवन पर चिन्तन करते हुए लिखा है—जीवन का उद्देश्य आत्मदर्शन है और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीव मात्र की सेवा करना है। महादेवी वर्मा ने साहित्यिक दृष्टि से जीवन पर विचार करते हुए लिखा है—जीवन जागरण है, सुषुप्ति नहीं; उत्थान है पतन नहीं; पृथ्वी के तमसाच्छन्न अन्धकारमय पथ से गुजरकर दिव्यज्योति से साक्षात्कार करना है; जहाँ द्वन्द्व और संघर्ष कुछ भी नहीं है। जड़, चेतन के बिना विकास-शून्य है और चेतन, जड़ के बिना आकार-शून्य है। इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया ही जीवन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—जीवन का रहस्य भोग में नहीं, त्याग में है। भोग मृत्यु है और त्याग जीवन है। सुकरात ने लिखा है—जीवन का उद्देश्य ईश्वर की भाँति होना चाहिए। ईश्वर का अनुसरण करते हुए आत्मा भी एक दिन ईश्वरतुल्य हो जायगी। श्रेष्ठ जीवन में ज्ञान और भावना, बुद्धि और सुख दोनों का सम्मिश्रण होता है। टालस्टाय ने लिखा—मानव का सच्चा जीवन तब प्रारम्भ होता है जब वह यह अनुभव करता है कि शारीरिक जीवन अस्थिर है और वह सन्तोष नहीं दे सकता। इस प्रकार जीवन के सम्बन्ध में चिन्तकों ने समय-समय पर विविध प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।

एक महान् दार्शनिक से किसी जिज्ञासु ने पूछा—जीवन क्या है? दार्शनिक ने गम्भीर चिन्तन के पश्चात् कहा—जीवन एक कला है, जो कुसंस्कारों को हटाकर सुसंस्कारों से संस्कृत किया जाता है। जीवन को संस्कारित बनाने के लिए चरित्र की आवश्यकता है। फ्रेडरिक सैण्डर्स ने सत्य ही कहा है—

"Character is the governing element of life, and is above genius."

चरित्र जीवन में शासन करने वाला तत्त्व है और वह प्रतिभा से उच्च है।

बर्टल ने भी लिखा है—

"Character is a diamond that scratches every other stone."

चरित्र एक ऐसा हीरा है जो हर किसी पत्थर को काट सकता है।

चरित्र से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व निखरता है और चरित्र ही व्यक्ति को अमर बनाता है। भारत के महान् अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने व्यक्ति को क्षर और व्यक्तित्व को अक्षर कहा है। व्यक्ति वह है जो आकर लौट जाता है, बनकर बिगड़ जाता है; किन्तु व्यक्तित्व वह है जो आकर लौटता नहीं, बनकर बिगड़ता नहीं। व्यक्ति मरता है किन्तु व्यक्तित्व अमर रहता है। महास्थविर परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री ताराचन्दजी महाराज व्यक्तिरूप से हम से पृथक् हो गये हैं किन्तु व्यक्तित्वरूप से वे आज भी जीवित हैं और भविष्य में भी सदा जीवित रहेंगे।

महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज का जन्म वीरभूमि मेवाड़ में हुआ। मेवाड़ बलिदानों की पवित्र भूमि है। सन्त महात्माओं की दिव्यभूमि है भक्त और कवियों की व्रजभूमि है; एक शब्द में कहूँ तो वह एक अद्भुत खान है जिसने अगणित रत्न पैदा किये। मेवाड की पहाड़ी और पथरीली धरती में अद्भुत तत्त्व भरे हैं। वहाँ की जलवायु में विशिष्ट ऊर्जा है। वहाँ के कण-कण में आग्नेय प्रेरणा है जिससे मानव अतीतकाल से ही राष्ट्र व धर्म के लिए बलिदान होता रहा है, परोपकार के लिए प्राणोत्सर्ग करता रहा है।

मैंने अनुभव किया है यहाँ का मानव चट्टानों की भाँति दृढ़ निश्चयी है, अपने लक्ष्य और संकल्प के लिए परवाना बनकर प्राणोत्सर्ग करने के लिए भी तत्पर है। शंका और अविश्वास की आँधियाँ उसे भेद नहीं सकतीं। साथ ही वह अन्य के दुःख और पीड़ा को देखकर मोम की तरह पिघल जाता है। किसी की करुण-कथा को सुनकर उसकी आँखें छलछलाती हैं और किसी क्षुधा से छटपटाते हुए याचक की गुहार सुनकर उसके मुँह का ग्रास हाथों में रुककर हाथ याचक की ओर बढ़ जाते हैं।

मेवाड़ की भूमि जहाँ वीरभूमि है वहाँ धर्मभूमि भी है। यहाँ धर्म शौर्य का स्रोत रहा है, वीरत्व को जगानेवाला रहा है। यहाँ पर वीरों का यह नारा रहा है—"जो दृढ़ राखे धर्म को ताहि राखे करतार।" यहाँ के वीर धार्मिक थे, दयालु थे। वे राष्ट्र, समाज और धर्म के लिए त्याग, बलिदान और समर्पण हँसते और मुस्कराते हुए, करने के लिए सदा कटिबद्ध थे।

महास्थविर ताराचन्दजी महाराज के जीवन में मेवाड़ की संस्कृति, धर्म और परम्परा, शौर्य और औदार्य, भक्ति और तपस्या का विलक्षण समन्वय था। उनके साहस, शौर्य, त्याग, तप, दृढ़ संकल्प, और अजेय आत्मबल की गाथाएँ जब भी स्मरण आती हैं तब श्रद्धा से मस्तक नत हो जाता है।

मेवाड़ की एक सुन्दर पहाड़ी पर बंबोरा ग्राम बसा हुआ है। वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य अद्भुत है। गाँव के सन्निकट ही मेवाड़ की सबसे बड़ी झील जयसमन्द है जिसमें मीलों तक पानी भरा पड़ा है, जो जीवन की सरसता का प्रतीक है और दूसरी ओर विराट् मैदान है जो विस्तार की प्रेरणा दे रहा है। तीसरी ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं जो जीवन को उन्नत बनाने का पावन संदेश दे रहे हैं। ऐसे पावन पुण्यस्थल में महास्थविर श्री ताराचन्दजी उत्पन्न हुए। उनके पिता का नाम शिवलालजी और माता का नाम ज्ञानकुँवर बहिन था। आश्विन शुक्ला चतुर्दशी के दिन वि०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवत् १९४० में आपका जन्म हुआ। आपका नाम हजारीमल रखा गया। बालक हजारीमल स्वभाव से सरल, गम्भीर, तथा बालसुलभ चंचलता से युक्त था। जब आप तीन वर्ष के हुए तब आप इतने नटखट थे कि माता जब पानी भरने के लिए जाती तब वह आपके पाँव रस्सी से बाँध देती थी। आपकी चंचलता को देखकर माँ को कृष्ण की याद आ जाती थी। आप कभी रूठते, कभी मचलते और कभी किसी वस्तु के लिए हठ कर के माता और पिता के मन को आह्लादित करते। जब आप की उम्र सात वर्ष की हुई तब अकस्मात् पिताजी बीमार हुए और सदा के लिए उन्होंने आँखें मूंद लीं। पिता के स्वर्गस्थ होने पर सन्तान के पालन-पोषण की पूरी जिम्मेदारी माता पर आ गयी। किन्तु वह मेवाड़ की वीरांगना थी। वह अपने कर्तव्य को भली-भाँति समझती थी। अतः बम्बोरा से वह उदयपुर आकर रहने लगी। क्योंकि बम्बोरे में उस समय अध्ययन की इतनी सुविधा नहीं थी और श्रमण-श्रमणियों के दर्शन भी बहुत ही कम होते थे। उदयपुर में बालक हजारीमल पोशाल में अध्ययन के लिए प्रविष्ट हुआ, क्योंकि उस युग में स्कूल, हाई स्कूल व कालेज नहीं थे। पोशाल में आचार्य के नेतृत्व में अध्ययन कराया जाता था। अध्ययन के साथ जीवन को संस्कारित बनाने के लिए अधिक लक्ष्य दिया जाता था। बालक हजारीमल की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, अतः स्वल्प समय में ही उन्हें अक्षरज्ञान हो गया था और वे पुस्तकें भी पढ़ने लगे थे।

विक्रम संवत् १९४९ में आचार्यप्रवर पूज्यश्री पूनमचन्दजी महाराज अपने शिष्यों के साथ उदयपुर पधारे और साथ ही परम विदुषी महासती गुलाबकुँवरजी, छगनकुँवरजी प्रभृति सती वृन्द भी वहाँ पर पधारीं। आचार्यप्रवर के पावन प्रवचनों को सुनने के लिए माता ज्ञानकुँवर के साथ बालक हजारीमल प्रतिदिन पहुँचता। आचार्यप्रवर के प्रवचनों में जादू था। वे वाणी के देवता थे। जो एक बार उनके प्रवचन को सुन लेता वह मन्त्रमुग्ध हो जाता। बालक हजारीमल के निर्मल मानस पर प्रवचन अपना रंग जमाने लगे और वह सुबह-शाम मध्याह्न में गुरुदेव के चरणों में बैठता, उनसे धार्मिक अध्ययन करता। गुरुदेव ने सामायिक करने की प्रेरणा दी। उन्होंने मुँह-पत्ती लगाकर सामायिक की। मुँह-पत्ती लगाते ही उनका चेहरा चमकने लगा। उनका गेहुवाँ वर्ण का गठा हुआ गुदगुदा शरीर, बड़ी-बड़ी कटोरे-सी आँखें, गोल मुँह, भव्य भाल, को देखकर हमजोले साथियों ने मजाक किया कि तुम तो गुरुजी की तरह लगते हो। तुम्हारे चेहरे पर मुँह-पत्ती बहुत अच्छी जँचती है। बालक हजारीमल ने आचार्यप्रवर से पूछा—भगवन्, मेरे मुँह पर मुँह-पत्ती बहुत अच्छी लगती है न? मुँह-पत्ती लगाकर तो मैं साधु-जैसा दीखने लगा हूँ।

आचार्यश्री ने बालक की ओर देखा। उसके शुभ लक्षणों को देखा और वे समझ गये कि यह बालक होनहार है और शासन की शोभा को बढ़ाने वाला है। गुरुदेव ने माता ज्ञानकुँवर को कहा—तुम्हारा यह पुत्र जैन शासन की शान को बढ़ायेगा। बालक का भविष्य उज्ज्वल है। अतीतकाल में भी अतिमुक्तक, ध्रुव, प्रह्लाद, आर्यवज्र, हेमचन्द्राचार्य, आदि शताधिक बालकों ने बाल्यकाल में दीक्षा ग्रहण कर धर्म की प्रभावना की है।

आचार्यप्रवर के उद्‌बोधक वचनों को सुनकर ज्ञानकुँवर ने कहा—आचार्यप्रवर, यदि हजारीमल दीक्षा लेगा तो मैं इनकार न करूँगी और यह मैं अपना सौभाग्य समझूंगी कि मेरा पुत्र जैन शासन की सेवा के लिए तैयार हुआ है। यदि वह दीक्षा लेगा तो मैं स्वयं भी महासतीजी के पास प्रव्रज्या ग्रहण करूँगी।

बालक हजारीमल के मामा सेठ हंसराजजी भण्डारी थे जो उमड ग्राम के निवासी थे और बुद्धिमान थे। वे आसपास के गाँवों में प्रमुख पंच के रूप में भी थे। जब उन्हें पता लगा कि मेरी बहिन और भानजा आर्हती दीक्षा ग्रहण करने वाले हैं तो वे उदयपुर पहुँचे। आचार्यप्रवर के पास बालक हजारीमल को धार्मिक अध्ययन करते हुए देखकर वे घबरा गये और बहिन को यह समझाकर कि मैं कुछ दिनों के लिए हजारीमल को और तुम्हें लिवाने के लिए आया हूँ। तुम न चलो तो भी कुछ दिनों के लिए बालक को तो भेज ही दो ताकि मैं उसे प्यार कर सकूँ।

सरलहृदया माता ने बालक हजारीमल को उसके मामा के साथ भेज दिया। हजारीमल को उन्होंने संयम की कठिनता बताकर उसके वैराग्य को कम करने का प्रयास किया। उन्होंने, प्रेम, भय, लालच और आतंक से समझाने की कोशिश की। किन्तु बालक हजारीमल तो गहरे रंग से रँगा हुआ था। 'सूरदास की काली कामरिया चढ़ै न दूजो रंग।' उसके मुँह से एक ही बात निकली कि मैं आचार्यप्रवर के पास साधु बनूँगा। बालक के मामा भण्डारी हंसराज जी के जब अन्य प्रयत्न असफल हो गये तो उन्होंने न्यायालय में अर्जी पेश की कि बालक हजारीमल नाबालिग है, माता उसे जबरदस्ती दीक्षा दिलाना चाहती है। अतः रोकने का प्रयास किया जाय। न्यायाधीश ने बालक हजारीमल को अपने पास बुलाया और उससे पूछा कि क्या तुम अपनी माता के कहने से दीक्षा लेना चाहते हो? उन्होंने कहा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं, मेरी स्वयं की इच्छा हैं। मेरी दीक्षा की बात को सुनकर माँ ने भी कहा कि यदि तू दीक्षा लेगा तो मैं भी दीक्षा लूंगी। दीक्षा की प्रेरणा देने वाला मैं स्वयं हूँ, माँ नहीं।

हंसराजजी भण्डारी तो देखते ही रह गये। न्याय उनके विरुद्ध में हुआ कि बालक सहर्ष दीक्षा ले सकता है। तथापि उन्होंने अपना प्रयास नहीं छोड़ा। उन्होंने बालक को अपने पास ही रख लिया। माता ज्ञानकुँवर पुत्र के बिना छटपटाने लगी। अन्त में प्यारचन्दजी मेहता, जिनका महाराणा फतेहसिंह जी से बहुत ही मधुर सम्बन्ध था, उनके आदेश को लेकर वे उमड़ गाँव पहुँचे और बालक हजारीमल को उदयपुर ले आये।

आचार्यप्रवर वर्षावास पूर्ण होने पर उदयपुर से विहार कर जालोर पधारे। पुत्र ने माँ से कहा—माँ, अपन आचार्यश्री की सेवा में पहुँचें और आर्हती दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को साधना में लगावें। किन्तु उदयपुर से जालोर पहुँचना एक कठिन समस्या थी। क्योंकि उदयपुर से साठ मील चित्तौड़गढ़ था जहाँ तक बैलगाड़ी से जाना होता और वहाँ से ट्रेन के द्वारा समदडी पहुँचना और समदडी से बत्तीस मील जालोर तक ऊँट पर जाना कितना कठिन होगा। अतः वत्स, कुछ समय के पश्चात् अपन जायेंगे। बालक हजारीमल ने कहा—माँ, शुभ कार्य में विलम्ब करना उचित नहीं है। विघ्न-बाधाओं से तो वह व्यक्ति भयभीत होता है जो कायर है। तुम तो वीरांगना हो। फिर यह कायरतापूर्ण बात क्यों करती हो?

पुत्र की प्रेरणा से प्यारचन्दजी मेहता की धर्मपत्नी के सहयोग से वे जालोर पहुँचे। आचार्यश्री के दर्शन कर अत्यन्त आह्लादित हुए और जब माता ज्ञानकुँवर को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि मेरा पुत्र दीक्षा ग्रहण करने के लिए योग्य है तब उसने आज्ञापत्र लिखकर आचार्यप्रवर को समर्पित किया और स्वयं महासतीजी की सेवा में रहकर अध्ययन करने लगी। आचार्यप्रवर ने चैत्र सुदी दूज वि० सं० १९५० में ज्ञानकुँवर बहिन को दीक्षा प्रदान की और परम विदुषी महासती छगनकुँवर जी की शिष्या घोषित की। महासती ज्ञान कुँवरजी ने अपनी सद्गुरुणी के साथ विहार किया क्योंकि महासती गुलाबकुँवरजी उदयपुर में स्थानापन्न थीं। उनकी सेवा में रहना बहुत ही आवश्यक था।

बालक हजारीमल ने आचार्यप्रवर के पास धार्मिक अध्ययन प्रारम्भ किया और वि० सं० १९५० के ज्येष्ठ शुक्ला तेरस रविवार को समदडी ग्राम में संघ के अत्याग्रह को सम्मान देकर आचार्यश्री ने दीक्षा प्रदान की और बालक हजारीमल का नाम मुनि ताराचन्द रखा गया। आपश्री का प्रथम चातुर्मास जोधपुर में हुआ। उस समय आचार्य पूनमचन्दजी महाराज के अतिरिक्त जोधपुर में अन्य सन्तों के भी चातुर्मास थे। किन्तु परस्पर में किसी भी प्रकार का मन-मुटाव नहीं था। जैसे वर्षा ऋतु में वर्षा की झड़ी लगती है, वैसी ही तप-जप, ज्ञान-ध्यान, संयम-सेवा की झड़ी लगती थी। नवदीक्षित बालक मुनि ताराचन्दजी मन लगाकर अध्ययन करने लगे। प्रतिभा की तेजस्विता से उन्होंने कुछ ही समय में आगमों का तथा स्तोक साहित्य का खासा अच्छा अध्ययन कर लिया। आचार्यश्री के चरणों में उन्हें अपूर्व आनन्द आ रहा था। उनके स्नेहाधिक्य से वे माता के वात्सल्य को और पिता के प्रेम को भूल गये। उनका द्वितीय चातुर्मास पाली में हुआ और तृतीय चातुर्मास जालोर में। महाकवि कालिदास ने कहा है—यह संसार बड़ा विचित्र है; यहाँ पर न किसी को एकान्त सुख मिलता है और न किसी को एकान्त दुःख ही। नियति का चक्र निरन्तर घूमता रहता है; कभी ऊपर और कभी नीचे। जन्म मानव का शुभ प्रसंग है और मृत्यु अशुभ प्रसंग है जो कभी टल नहीं सकते। जालोर वर्षावास में आनन्द की स्रोतस्विनी बह रही थी। सन्त समागम का अपूर्व लाभ जन मानस को मिल रहा था, और मुनिश्री ताराचन्दजी की श्रुत-आराधना भी अस्खलित गति से प्रवाहित थी। जैन संस्कृति का महापर्व पर्युषण का विशाल समारोह भी सानन्द सम्पन्न हो चुका था। आचार्यप्रवर को भाद्रपद शुक्ला चतुदर्शी के दिन वि० सं० १९५२ को तेज ज्वर ने आक्रमण किया। साथ ही अन्य व्याधियाँ भी उपस्थित हुईं। किन्तु आचार्य प्रवर समभाव पूर्वक उन्हें सह रहे थे। व्याधि का प्रकोप प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ रहा था। मृत्यु सामने आकर नाचने लगी। तथापि आपश्री पूर्ण समाधिस्थ व शान्त थे। केवल उनके मन में एक विचार था—बालक मुनि ताराचन्द के व्यक्तित्व निर्माण का। अतः उन्होंने अपने प्रधान अन्तेवासी आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी महाराज को और कविवर्य नेमिचन्दजी महाराज को कहा—मुनि ताराचन्द को तुम्हारे हाथ सौंप रहा हूँ। इसका विकास करना तुम्हारा काम है और स्वयं शान्त व स्थिर मन से आलोचना, संल्लेखना-संथारा कर पूर्ण समाधिस्थ हो गये। अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्ररूपित धर्म इन चार महाशरण का स्मरण करते हुए उन्होंने पूर्णिमा के दिन देहत्याग किया। पूर्णिमा की चारु चन्द्रिका चमक रही थी, किन्तु वह ज्योतिपुञ्ज धरा से विलीन हो चुका था। बाल मुनिक ताराचन्दजी के हृदय को गुरु-वियोग का वज्र-आघात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगा जिससे वे विचलित हो गये। जिस गुरुदेव की शीतल छाया में जीवन का यह नवीन पौधा संरक्षण व संवर्द्धन पा रहा था, अकस्मात् क्रूर काल की आँधी के एक ही वेग से वह शीतल छाया ध्वस्त हो गयी। इस स्थिति में बालक मुनि अपने को असहाय व आश्रयहीन अनुभव करने लगा। उस समय ज्येष्ठमलजी महाराज व नेमीचन्दजी महाराज ने मधुर स्नेह से उन्हें स्वस्थ किया। वे पुनः शान्त और स्थिरचित्त होकर संयम-साधना में लीन हो गये।

वर्षावास के पश्चात् जालोर से विहार हुआ। श्रमण ऋषियों के लिए विहार करना प्रशस्त माना गया है—'विहार चरिया इसिणंपसत्था'। सरिता की सरस धारा के समान श्रमणों की विहार यात्रा है। जैसी सरिता के सन्निकट की भूमि उर्वरा होती है वैसे ही सन्तों के सत्संग से जन-जीवन में सत्संस्कार, सद्विचार तथा सदाचार पनपने लगते हैं और स्नेह सद्भावना की सरस भावनाएँ अठखेलियाँ करने लगती हैं। एक कवि ने कहा भी है—

"साधु, सलिला, बादली, चले भुजंगी चाल।
जिण-जिण सेरी नीसरे, तिण-तिण करत निहाल॥"

बालक मुनि श्री ताराचन्दजी अपने गुरुभ्राता कविवर्य श्री नेमीचन्दजी महाराज के साथ मेवाड़ पधारे और मातेश्वरी ज्ञानकुँवरजी से मिले। माँ ने अपनी वाणी में स्नेह-सुधा घोलते हुए कहा—वत्स! मैं जानती हूँ कि गुरुदेव श्री का एकाएक स्वर्गवास हो गया है। तुम्हें साधना के क्षेत्र में अब अधिक जागरूकता से आगे बढ़ना है। दूध को गरम करते समय उफान आता है किन्तु समझदार रसोइया जल के छींटे डालकर उस उफान को शान्त कर देता है। जो व्यक्ति समुद्र की यात्रा करता है उसे तूफान का सामना करना पड़ता है। कुशल नाविक तूफानी वातावरण में भी नौका को खेता हुआ पार पहुँचा देता है। तो तुम्हें उफान और तूफान में शान्त रहना है। उफान जीवन में अनेक बार आते हैं। यदि साधक जागरूक न रहे तो उफान भी तूफान बन जाता है। अतः सतत जागरूकता की आवश्यकता है।

वत्स! अभी तेरी उम्र छोटी है। यह उम्र अध्ययन करने की है। अध्ययन से बुद्धि मँजती है। विचारों में निखार व प्रौढ़ता आती है। अध्ययन के साथ ही विनय और विवेक भी आवश्यक हैं। नगीना स्वर्ण में जड़ने से ही शोभा पाता है। वैसे ही विनय के साथ विवेक की भी शोभा होती है। विनय से जीवन में हजारों सद्गुण आते हैं। विनय वह चुम्बक है जो सद्गुणों को अपनी ओर आकर्षित करता है। साथ ही चाहे तुमसे बड़े हों चाहे छोटे हो उन सभी की, तन, मन, से सेवा करना। सेवा से तेरे जीवन में नयी चमक और दमक आयेगी। देख बेटा, "चाम नहीं, काम वाल्हो है।" मेरी इन शिक्षाओं पर तू सदा ध्यान रखना। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् तू पहली बार मुझसे मिला है। अतः मैंने अपने हृदय की बात तुझे कही है। इसे जीवन भर न भूलना।

माँ की शिक्षाभरी बातों को सुनकर बालकमुनि ताराचन्दजी ने कहा—माँ! तू चिन्ता मत कर। मैं तेरे दूध को रोशन करूँगा। मैं ऐसा कोई भी कार्य नहीं करूँगा जिससे तुझे उपालंभ सुनना पड़े। माँ पुत्र के तेजस्वी और ओजस्वी चेहरे को देखकर प्रफुल्लित थी। उसे आत्मविश्वास था कि मेरा लाल साधना के महामार्ग में सदा आगे ही बढ़ता रहेगा। आपश्री ने विक्रम संवत् १९५३ का वर्षावास रंडेडा में किया और वर्षावास के पश्चात् अपनी जन्मस्थली बम्बोरा पधारे। उस समय वहाँ पर पूज्यश्री तेजसिंह जी महाराज की सम्प्रदाय के बड़े प्यारचन्दजी महाराज से आपका मिलना हुआ। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि आपश्री इसके पश्चात् पुनः अपनी जन्मभूमि में संवत् २००३ में पधारे, अर्थात् पचास वर्ष के बाद।

आपश्री का स्वभाव बहुत मधुर था। आपकी वाणी में मिश्री के समान मिठास था। सेवा और विनय के कारण आपश्री सन्तों के अत्यधिक प्रिय हो गये। आपकी प्रतिभा से सन्त प्रभावित थे। आपश्री ने छह चातुर्मास कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज के साथ किये और दूज के चाँद की तरह आपका प्रेम निरन्तर बढ़ता ही रहा। रतलाम में श्री उदयसागरजी महाराज ने अपको देखकर नेमीचन्दजी महाराज से कहा—इसके शुभ लक्षण बताते हैं कि यह महान प्रभावशाली सन्त होगा और यह देश-विदेशों में भी लम्बी यात्राएँ करेगा।

विक्रम संवत् १९५९ में आपश्री आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी महाराज की सेवा में पधार गये और वे जब तक जीवित रहे तब तक आपश्री उन्हीं की सेवा में रहे। आपश्री की सेवा से ज्येष्ठमलजी महाराज अत्यधिक प्रभावित हुए। आपने ज्येष्ठमलजी महाराज के सुशिष्य तपस्वी हिन्दूमलजी महाराज जो गढ़सिवाना के थे, जिन्होंने भरे-पूरे परिवार का परित्याग कर आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी, और दीक्षा ग्रहण करते ही जिन्होंने पाँचों विगायों का परित्याग कर दिया था एवं उग्र तप की साधना करते थे। एक बार वे सिवाना के सन्निकट अजियाना गाँव में थे। उस समय परस्पर कुत्ते लड़ रहे थे। उनकी झपट में आ जाने से तपस्वी हिन्दूमलजी महाराज नीचे गिर गये और उनके पैर की हड्डी टूट गयी, जिससे वे चल नहीं सकते थे। आप उन्हें अपने कन्धे पर बिठाकर उपचार हेतु छह मील चलकर गढ़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिवाना लाये और उनकी अत्यधिक सेवा करके उन्हें स्वस्थ किया। तपस्वी हिन्दूमलजी महाराज ने चौदह वर्ष तक संयम-साधना और उग्र तप की आराधना की। अन्तिम चार वर्षों में वृद्धावस्था और रुग्णावस्था के कारण उनमें चलने का सामर्थ्य नहीं था। तब अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज के आदेश को शिरोधार्य कर चार वर्ष तक उनकी अत्यधिक सेवा की। नन्दीसेन मुनि की तरह अग्लानभाव से आपको सेवा करने में आनन्द की अनुभूति होती थी। अपनी सम्प्रदाय के सन्तों की तो सेवा करते ही थे, किन्तु अन्य सम्प्रदाय के सन्तों की सेवा का प्रसंग उपस्थित होने पर भी आप पीछे नहीं रहते थे।

एक बार आचार्य रघुनाथमलजी महाराज की सम्प्रदाय के सन्त कालूरामजी महाराज अत्यधिक अस्वस्थ हो गये थे। उस समय उनकी सेवा में कोई भी सन्त नहीं था। जब आपश्री को यह ज्ञात हुआ, तो गुरुजनों की आज्ञा लेकर उनकी सेवा में समदडी पहुँचे और मन लगाकर सेवा की। अन्त में कालूरामजी महाराज को बीस दिन का संथारा आया उस समय आपकी सेवा प्रशंसनीय रही। आपश्री ने ज्येष्ठमलजी महाराज, नेमीचन्द महाराज, मुलतानमलजी महाराज, दयालचन्दजी महाराज, उत्तमचन्दजी महाराज, बाघमलजी महाराज, हजारीमलजी महाराज आदि सन्तों की अत्यधिक सेवाएँ कीं। सेवा आपका जीवन-व्रत था। जिस असिधारा व्रत पर चलते समय बड़े-बड़े वीर भी घबरा जाते हैं, किन्तु आपने सेवा का ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया।

आपश्री को जब सेवा से अवकाश मिलता तब आप ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ उतारते थे। आपके अक्षर मोती के समान सुन्दर थे। आपश्री ने रामायण, महाभारत, श्रेणिकचरित्र, आदि चरित्र और सैकड़ों भजन, चौपाइयाँ लिखीं।

आपकी प्रवचन-कला अत्यन्त आकर्षक थी। जब आप प्रवचन करते तब सभा मन्त्रमुग्ध हो जाती थी। हास्यरस, करुणरस, वीररस और शान्तरस सभी रसों की अभिव्यक्ति आपकी वाणी में सहज होती थी। उसके लिए आपको किंचित्मात्र भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। आपकी वाणी में मृदुता, मधुरता और सहज सुन्दरता थी। वक्तृत्वकला स्वभाव से ही आपको प्राप्त हुई थी। किस समय, क्या बोलना, कैसे बोलना, कितना बोलना यह आप अच्छी तरह से जानते थे। जहाँ-जहाँ भी आप गये वहाँ आपका जय-जयकार होता रहा।

आपश्री का वि० सं० १९९१ का चातुर्मास ब्यावर में था। ब्यावर सदा से संघर्ष का केन्द्र रहा है। वहाँ का संघ तीन विभागों में विभक्त है—प्रथम स्थानक के अनुयायी, दूसरे आचार्य जवाहरलालजी महाराज को मानने वाले और तीसरे जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज के अनुयायी थे। स्थानक वालों में तथा दिवाकरजी महाराज के अनुयायियों में परस्पर सद्भाव था जिससे एक वर्ष उनका चातुर्मास और द्वितीय वर्ष स्थानक का चातुर्मास होता था। किन्तु उस वर्ष ऐसा वातावरण बना कि तीनों संघों ने मिलकर आपश्री के चातुर्मास की प्रार्थना की। संगठन, स्नेह सद्भावना की वृद्धि को संलक्ष्य में रखकर आपने चातुर्मास स्वीकार किया और आपके प्रवचनों की ऐसी धूम मची कि सभी श्रोता विस्मित हो गये। आप प्रवचनों में आगमिक गम्भीर रहस्यों को रूपक, लोककथाओं, उक्तियों व संगीत के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त करते थे कि श्रोत झूम उठते।

आपश्री संगठन के प्रबल पक्षधर थे। स्थानकवासी परम्परा में विभिन्न मतों को देखकर आपका हृदय द्रवित हो गया था। आपने स्थानकवासी समाज की एकता के लिए प्रबल प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप सर्वप्रथम विक्रम संवत् १९८८ में पाली के पवित्र प्रगण में मरुधर प्रान्त में विचरने वाले छह सम्प्रदायों के महारथियों का सम्मेलन हुआ और आपश्री के प्रबल पुरुषार्थ से संगठन का सु-मधुर वातावरण तैयार हुआ। उस सम्मेलन के कारण संघ में एक उत्साहपूर्ण वातावरण का निर्माण हुआ और बृहत साधु-सम्मेलन, अजमेर की भूमिका तैयार हुई। अजमेर में विराट सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में भी आपश्री ने स्थानकवासी समाज की एकता पर अत्यधिक बल दिया। सन् १९५२ में जो सादड़ी सम्मेलन हुआ उस वर्ष आपश्री का वर्षावास सादड़ी में था और आपकी ही प्रबल प्रेरणा से सादड़ी में सन्त सम्मेलन हुआ। उसमें आपश्री ने अत्यधिक निष्ठा के साथ कार्य किया। आपश्री का कार्य नींव की ईंट के रूप में था, यद्यपि वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ में आप सबसे बड़े थे, तथापि आपश्री में तनिक मात्र भी अहंकार नहीं था। संघ की प्रगति किस तरह हो, यही चिन्तन आपश्री का था। आपश्री को पद का किंचित् मात्र भी लोभ नहीं था। यही कारण था कि सादड़ी सन्त सम्मेलन में आपको पद देने के लिए अत्यधिक आग्रह भी किया गया। किन्तु पद लेना आपश्री ने स्वीकार नहीं किया। यह थी आपकी पूर्ण निस्पृहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा के प्रति आपश्री की स्वाभाविक अभिरुचि थी। स्वयं आपने तो पण्डित से डेढ़ दिन ही पढ़ा था। क्योंकि वह युग ऐसा था जिस युग में पंडितों से पढ़ना उचित नहीं माना जाता था। केवल गुरुओं से अध्ययन किया जाता था। किन्तु समय ने करवट बदली; आपश्री ने देखा, संस्कृत, प्राकृत भाषा का जब तक गहरा अध्ययन नहीं होगा तब तक आगमों के रहस्य स्पष्ट नहीं हो सकते। अतः आपश्री ने अपने सुयोग्य शिष्य भी पुष्कर मुनि जी महाराज को संस्कृत-प्राकृत भाषा का अध्ययन ही नहीं करवाया अपितु किंग्स कालेज बनारस की और कलकत्ता असोसियेशन की काव्यतीर्थ, न्यायतीर्थ आदि परीक्षाएँ भी दिलवायीं। अपने अन्य शिष्य और प्रशिष्यों को भी तथा सती वृन्द को भी अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा दी। आपश्री को एक बार प्रातःकाल स्वप्न आया था कि मेरे शिष्य-शिष्याएँ प्रकाश की ओर बढ़ रही हैं। आपश्री ने उसका यही अर्थ लगाया कि ज्ञान के क्षेत्र में ये प्रगति करेंगे।

ज्ञान के साथ ही आचार पर आपका बहुत अधिक बल था। आप स्वयं कम बोलते थे और गृहस्थों से निरर्थक वार्तालाप नहीं किया करते थे। आपका यह मानना था कि सन्तों को गृहस्थों का सम्पर्क कम से कम करना चाहिए। अधिक सम्पर्क से श्रमणों के जीवन में साधना की दृष्टि से न्यूनता आती है। मक्खन लम्बे समय तक छाछ में रहेगा तो मक्खन का ही नुकसान है, छाछ का नहीं। साधना की उत्कृष्टता के लिए आचार की निर्मलता अपेक्षित है। जितना आचार शुद्ध होगा उतना ही साधक के जीवन का प्रभाव बढ़ेगा।

आपके जीवन पर अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज के जीवन का प्रभाव था। यही कारण है आपको जप-साधना अत्यधिक प्रिय थी। मैंने स्वयं देखा है कि जीवन की सान्ध्यवेला में प्रमाद आ जाता है। सूर्य का तेज भी कम हो जाता है। किन्तु आपश्री जप-साधना के क्षेत्र के प्रतिक्षण आगे बढ़ते ही रहे। एक दिन मैंने पूछा—गुरुदेव, आप प्रतिदिन चौदह-पन्द्रह घण्टे तक जप करते हैं। आपने आज दिन तक कितना जप किया है? आपने कहा—"देवेन्द्र! जप अपने लिए किया जाता है। जप में हिसाब की मनोवृत्ति नहीं होती। मैं नमस्कार मन्त्र का जाप करता हूँ। आपश्री ने बात टालने का प्रयास किया। किन्तु मेरे बालहठ के कारण अन्त में आपने कहा सवा करोड़ से भी अधिक जप हो चुका है।" मैं सोचने लगा सवा करोड़ का जप करना कितना कठिन है। उसके लिए कितना धैर्य अपेक्षित है। मैंने स्वयं यह देखा कि जप के कारण आपश्री को वचनसिद्धि भी हो गयी थी। किन्तु विस्तारभय से मैं वे सारे प्रसंग यहाँ नहीं दे रहा हूँ।

आपश्री एक फक्कड़ सन्त थे। चाहे धनवान हो चाहे गरीब, सभी के प्रति समतापूर्ण व्यवहार था। धनवानों को देखकर आपने कभी उनका विशेष आदर करना पसन्द नहीं किया और निर्धनों को देखकर कभी अनादर नहीं किया। जयपुर वर्षावास में सेठ विनयचन्द दुर्लभजी जौहरी जब भी दर्शन के लिए आते तब पूज्य गुरुदेवश्री की सेवा में घण्टा-आधा घण्टा बैठते थे, किन्तु गुरुदेव उनसे कभी भी बातचीत नहीं करते थे। वे अपनी जप-साधना में ही तल्लीन रहते थे। विनयचन्दभाई ने अनेकों बार पूज्य गुरुदेवश्री से प्रार्थना की कि मुझे कुछ सेवा का लाभ दीजिए। किन्तु गुरुदेव ने सदा यही कहा कि मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। अन्त में पूज्य गुरुदेवश्री की स्मृति-सभा में बोलते हुए विनयचन्दभाई ने कहा—"मैंने ताराचन्दजी महाराज जैसे निस्पृह सन्त नहीं देखे जो मेरे द्वारा बीसों बार प्रार्थना करने पर भी कभी किसी वस्तु की या संस्था के लिए दान दिलवाने हेतु इच्छा व्यक्त नहीं की। सेठ सोहनलालजी दुग्गड जो महान् दानवीर थे, वे आपश्री के दर्शन हेतु कलकत्ता से जयपुर आये। उस समय पूज्य गुरुदेवश्री शौच के लिए बाहर पधारे हुए थे। दुग्गडजी गुरुदेव के साथ दो मील तक चलकर लाल भवन आये। उन्होंने गुरुदेवश्री से अत्यधिक प्रार्थना की कि मुझे अवश्य ही लाभ दें। मैं कलकत्ता से ही यह संकल्प करके आया हूँ कि आप जहाँ भी फरमाएँगे वहाँ मुझे अर्थ-सहयोग देना है। आपश्री ने कहा—जहाँ आपको सुख उत्पन्न होता हो वहाँ पर आप दान दे सकते हैं। मुझे कहीं पर भी नहीं दिलवाना। और आपश्री अपनी जप-साधना में लग गये। सेठ सोहनलालजी दुग्गड गुरुदेव के चरणों में डेढ़ घन्टे तक बैठे रहे। पुनः पुनः प्रार्थना करने पर भी आपश्री ने कुछ भी नहीं फरमाया। आपश्री के स्वर्गवास के पश्चात् श्रमण-संघ के उपाचार्य श्रीगणेशीलालजी महाराज तथा उपाध्याय हस्तीमलजी महाराज के सामने सेठ सोहनलालजी दुग्गड ने कहा कि मैं अपने जीवन में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा के साधु-सन्तों के और आचार्यों के सम्पर्क में आया किन्तु जैसा निस्पृह सन्त महास्थविर ताराचन्दजी महाराज को मैंने देखा वैसा अन्य सन्त मुझे दिखायी नहीं दिया।

भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ४ दिसम्बर, १९५४ को पूज्य गुरुदेवश्री से मिले थे, अन्य सन्त गण उनसे पचपन मिनट तक बातें करते रहे; किन्तु आपश्री उस समय भी जप-साधना में तल्लीन थे। आपश्री की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निस्पृहता और आध्यात्मिक मस्ती को देखकर नेहरूजी के हृत्तन्त्री के तार भी झनझना उठे कि यह महात्मा अद्भुत है ।

आपश्री ने छह महीने पूर्व ही कह दिया था कि अब मेरा अन्तिम समय सन्निकट है । अतः आपश्री ने अपने जीवन की, निःशल्य होकर आलोचना करली । और सदा मुझे या अन्य सन्त को अपने पास रखते । आपने यह भी कहा—कि जब मुझे अर्धांग (लकवा) होगा, उस समय मेरा अन्तिम समय समझना । मैं तुम्हें अपने पास इसीलिए रखता हूँ कि कदाचित् उस समय मेरी वाचा बन्द हो जाय तो तू मुझे संथारा करा देना । वि० सं० २०१३ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी के दिन मध्याह्न में आपश्री प्रधानमन्त्री मदनलालजी महाराज के पास पधारे जो लालभवन में नीचे विराज रहे थे । वार्तालाप के प्रसंग में आपश्री ने कहा मदनलालजी, कल व्याख्यान नहीं होगा । मदनलालजी महाराज ने विनय के साथ पूछा—गुरुदेव, किस कारण से व्याख्यान नहीं होगा ? आपश्री ने कहा इसका रहस्य अभी नहीं, कुछ समय के बाद तुझे स्वयं ज्ञात हो जायेगा । सायंकाल पाँच बजे आपश्री ने आहार किया और हाथ धोने के लिए ज्यों ही लघुपात्र आपने उठाया त्यों ही लकवे का असर हो गया । लकवे के असर होते ही आपने कहा—मेरा अन्तिम समय आ चुका है । अब मुझे संथारा करा दो । उसी समय प्रधानमंत्री मदनलालजी महाराज ने आकर कहा—गुरुदेव, आपका शरीर पूर्ण स्वस्थ है ? डाक्टर को अभी बुलवाते हैं । वे जाँच करेंगे क्योंकि लकवे का मामूली असर हुआ है और यह बीमारी तो ऐसी है कि समय का कुछ भी पता नहीं । गुरुदेवश्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मेरा अब अन्तिम समय आ चुका है । यदि आप विलम्ब करते हैं तो मैं स्वयं चतुर्विध संघ की साक्षी से संथारा ग्रहण करता हूँ । आपश्री ने यह कहकर संथारा ग्रहण कर लिया । आपकी अत्युत्कृष्ट भावना देखकर अन्त में मदनलालजी महाराज ने संघ की साक्षी से संथारा करवाया । आपने चतुर्विध संघ से क्षमायाचना की और अपने शिष्यों को हित-शिक्षाएँ दीं । ज्ञान-दर्शन-चारित्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी और अन्त में आपने प्रधानमंत्री मदनलालजी महाराज से प्रतिक्रमण सुना और अन्त में ये शब्द निकले कि—मदनलालजी, आपने प्रतिक्रमण अच्छा सुनाया । उसके बाद आपकी वाचा बन्द हो गयी । आपकी भावना उत्तरोत्तर निर्मल हो रही थी । और प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में आपने महाप्रकाश की ओर प्रयाण कर दिया ।

महास्थविर ताराचन्दजी महाराज का जीवन एक ज्योतिर्मय जीवन था । आपमें चारित्रिक पवित्रता, वैचारिक उदारता और दृढ़ता तथा सेवापरायणता के सद्गुणों के सुमन सदा खिलते रहे । आप में अत्यधिक स्फूर्ति थी । अपना कार्य अपने हाथों से करना पसन्द था । लघुमुनियों की सेवा करने में भी आप सदा आगे रहते थे । आपका विहार-क्षेत्र पूर्वाचार्यों की अपेक्षा विस्तृत था । आपने भारत के विविध अंचलों में ६४ वर्षावास किये । उसकी तालिका इस प्रकार है—

जोधपुर	(मारवाड़)	१९५०, १९६१, १९७७, २००१ (वि० संवत्)
पाली	(,,)	१९५१, १९६२, १९७०, १९८०
जालोर	(,,)	१९५२, १९६७, १९७५, १९७९, १९७५
रंडेडा	(मेवाड़)	१९५३
निंबाहेडा	(,,)	१९५४
सनवाड	(,,)	१९५५, १९६६
भिंडर	(,,)	१९५६
गोगुंदा	(,,)	१९५७, १९८८
सादडी	(मारवाड़)	१९५८, २००८
सिवाना	(,,)	१९५९, १९६५, १९७८, १९८४, १९८६, १९९६, २००९
समदडी	(,,)	१९६०, १९६४, १९६९, १९७१, १९७२, १९७३, १९७४, १९८१, १९८३, १९९८
सालावास	(,,)	१९६३
बालोतरा	(,,)	१९६८
देलवाड़ा	(मेवाड)	१९७६
नान्देशमा	(,,)	१९८२, २००२, २००७,
खंडप	(मारवाड)	१९८७, १९९७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीपाड	(मारवाड़)	१९८९, २०००
दुन्दाडा	(,,)	१९९०
ब्यावर	(राजपूताना)	१९९१
लीमडी	(गुजरात)	१९९२
नासिक	(महाराष्ट्र)	१९९३, २००४
मनमाड	(,,)	१९९४
कम्बोल	(मेवाड़)	१९९५
रायपुर	(मारवाड़)	१९९९
धार	(मध्य प्रदेश)	२००३
घाटकोपर	(बम्बई)	२००५
चूडा	(सौराष्ट्र)	२००६
जयपुर	(राजस्थान)	२०१०, २०१२, २०१३
दिल्ली	(,,)	२०११

महास्थविर श्री ताराचन्दजी म० के जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ पर प्रस्तुत की गई है। जिससे विज्ञगण समझ सकते हैं कि उनका व्यक्तित्व कितना तेजस्वी, ओजस्वी और वर्चस्वी था। उनके विराट जीवन को शब्दों में बाँधना बड़ा ही कठिन है। उन्होंने जन-जन के सुषुप्त अन्तर्जीवन को जागृत किया। श्रमणसंघ के संगठन के लिए भगीरथ प्रयास किया। ग्राम और नगरों में कलहाग्नि का उपशमन किया, शान्ति, सौमनस्य एकता की स्थापना की और समाज की बुराइयों के विरुद्ध सिंहनाद किया और जैनधर्म के गौरव में चार चाँद लगाये।

दिव्य तपोधन श्री जसराजजी महाराज

तप आत्मा की एक परम तेजोमय शक्ति है। साधारण मानव इस परम शक्ति को जागृत नहीं कर सकता। वह इस परम शक्ति के सम्बन्ध में जानता भले ही हो, किन्तु अनुभव नहीं कर सकता। वे महान् भाग्यशाली हैं जिन्होंने इस शक्ति का अनुभव किया है।

आचार्य मलयगिरि ने तप की परिभाषा करते हुए लिखा है—जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता हो उन्हें भस्मसात् कर डालने में समर्थ हो, वह तप है।[1] आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने तप की व्युत्पत्तिजन्य परिभाषा करते हुए कहा—जिस साधना-आराधना व उपासना से पाप-कर्म तप्त हो जाते हैं वह तप है।[2] आचार्य अभयदेव ने तप का निरुक्त अर्थ करते हुए कहा है—जिस साधना से शरीर के रस, रक्त, मांस, हड्डियाँ, मज्जा, शुक्र आदि तप जाते हैं, सूख जाते हैं वह तप है तथा जिसके द्वारा अशुभ कर्म जल जाते हैं वह तप है।[3]

विश्व में जितनी भी शक्तियाँ, विभूतियाँ और लब्धियाँ हैं उनकी उपलब्धि तप से होती है—**'तपोमूला हि सिद्धयः'** कहा गया है। श्रद्धाविभोर होकर वैदिक ऋषियों ने भी तप की महिमा मुक्तकण्ठ से गायी है। 'तप ही मेरी प्रतिष्ठा है।'[4] श्रेष्ठ और परमज्ञान तप के द्वारा प्रकट होता है।[5] ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा देवताओं ने भी मृत्यु को जीत लिया।[6] तप ही स्वयं ब्रह्म है।[7] यह आत्मा सत्य और तप के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।[8]

भारतभूमि अतीत काल से ही तपोभूमि रही है। यहाँ पर महातपस्वियों की एक सुदीर्घ परम्परा है। तपस्वी अपनी साधना से न केवल बाह्य शरीर को तपाता है किन्तु अन्तरंग का भी शोधन करता है। वस्तुतः अन्तःशोधन ही तप का उद्देश्य है। परम श्रद्धेय श्री जसराजजी महाराज एक परमतपस्वी सन्त थे। उनका जन्म अजमेर जिले के सरवाड ग्राम में विक्रम संवत् १८७७ (सन् १८२०) को हुआ था। उनके पिता का नाम धरमचन्दजी और माता का नाम श्रद्धा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। जाति से औसवाल थे। आपका पाणिग्रहण एक सुरूपा बाला सरस्वती से सम्पन्न हुआ। आचार्य श्री अमरसिंहजी महाराज के प्रशिष्य कोजूरामजी महाराज थे और उनके शिष्य रामपहचानजी महाराज थे। उनके पावन प्रवचन को श्रवण कर आपके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना प्रबुद्ध हुई और आपने उनचास वर्ष की वय में संवत् १९२६ (सन् १८६९) में गृहस्थाश्रम का परित्याग कर आर्हती दीक्षा ग्रहण की। और उन्हीं के चरणों में बैठकर जैन आगमों का गहन अध्ययन किया। आगमों का अध्ययन करते समय जैन श्रमण व श्रमणियों के उग्र तप का वर्णन पढ़ते ही आपका तपस्या के प्रति जो स्वाभाविक अनुराग था वह प्रस्फुटित हो गया और आपने तप के कठोर कण्टकाकीर्ण महामार्ग की ओर अपने मुस्तैद कदम बढ़ाये।

सवासोलह वर्ष तक संयम-साधना, आत्म-आराधना करते हुए आपने जो तप किया उसका वर्णन आपके एक शिष्य ने भक्तिभाव से विभोर होकर पद्य रूप में अंकित किया है जिसे पढ़ते ही धन्ना-अनगार का स्मरण हो आता है। उन्होंने पारणे में सरस आहार का त्याग कर दिया था। वे नीरस और अल्पतम आहार ग्रहण करते थे। आश्चर्य तो यह है उन्होंने सवा सोलह वर्ष में केवल पाँच वर्ष ही आहार ग्रहण किया। उन्होंने अट्ठाई तप से अधिक जो तप किया उसका वर्णन इस प्रकार मिलता है :

तपोदिन	६२	६०	५२	५१	४५	४२	४१	३०	२४	२१	२०	१६	१५	१२	१०	९	८
तप	१	२	१	१	५	२	१	१७	४	२	२	१	९	२	८	१५	१५

संवत् १९४२ (सन् १८८५) में आपश्री जोधपुर पधारे। वृद्धावस्था तथा उग्रतप के कारण शरीर शिथिल हो चुका था। अतः आपश्री ने संलेखनापूर्वक संथारा किया। श्रद्धालु लोगों ने इनकारी की। किन्तु आपका आत्म-तेज इतना तीव्र था कि आपने कहा—आपका मेरे प्रति मोह है, किन्तु मुझे जीवन को निर्मल बनाना है। अतः मैं संथारा करूँगा। संथारे में आपकी भावना उत्तरोत्तर निर्मल होती रही और ७१ दिन के सन्थारे के पश्चात् आपका समाधि-पूर्वक स्वर्गवास हुआ।

तप के कारण आपको अनेक सिद्धियाँ भी प्राप्त हुई थीं। किन्तु आपके तपश्चरण का एक उद्देश्य था कर्म निर्जरा करना, आत्मा को उज्ज्वल और परम शुद्ध बनाना। न चाहते हुए भी तपस्वी को सहज सिद्धियाँ मिल जाती हैं। आप वचनसिद्ध थे। आपश्री की चरणधूलि के स्पर्श से अनेक व्यक्ति भयंकर रोगों से मुक्त हो जाते थे। आपके साधनामय जीवन की अनेक अनुश्रुतियाँ हैं, किन्तु कभी अवकाश के क्षणों में उन अनुश्रुतियों पर लिखने का सोचता हूँ।

[नोट—अष्टम खण्ड के अब तक के सभी निबन्धों के लेखक हैं—**श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री**।]

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ तापयति अष्ट प्रकारं कर्म-इति तपः। —**आवश्यक मलयगिरि**, खण्ड २, अध्ययन १.

२ 'तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो।' —**निशीथचूर्णि** ४६

३ रसरुधिर मांस मेदाऽस्थि मज्जा शुक्राण्यनेन तप्यन्ते, कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्तः। —**स्थानांगवृत्ति** ५

४ तपो मे प्रतिष्ठा। —**तैत्तिरीय ब्राह्मण** ३/७/७०

५ श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातः। —**गोपथ ब्राह्मण** १/१/९

६ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। —**अथर्ववेद** ११/५/१९

७ तपो ब्रह्मेति। —**तैत्तिरीय आरण्यक** ९/२

८ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। —**मुण्डक उपनिषद्** ३/१/५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org